

आजादी मिलते ही छोटे छोटे देशों ने अपनी भाषा को जीवित किया मगर हम फिर गुलाम हो गए

भाषा का प्रश्न समग्र है। भाषा अनुभूति को अभिव्यक्त करने का माध्यम भर नहीं है। भाषा सभ्यता को संस्कारित करने वाली वीणा एवं संस्कृति को शब्द देनेवाली वाणी है। किसी भी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति नष्ट करनी हो तो उसकी भाषा नष्ट कर दीजिए। इस सूत्र को भारत पर शासन करने वाले विदेशियों ने भली भाँति समझा। आरंभिक आक्रमणकारियों ने संस्कृत जैसी समृद्ध और संस्कृतिवाणी को हाशिए पर कर अपने-अपने इलाके की भाषाएं लादने की कोशिश की। बाद में सभ्यता की खाल ओढ़कर अंग्रेज आया। उसने दूरगामी नीति के तहत भारतीय भाषाओं की धज्जियाँ उड़ाकर अपनी भाषा और अपना हित लाद दिया। लहू खच्चर की तरह हिंदुस्तानी उसकी भाषा को ढोता रहा। अंकुश विदेशियों के हाथ में होने के कारण वह असहाय था।

यहाँ तक तो ठीक था। शासक विदेशी था, उसकी सोच और कृति में परिलक्षित स्वार्थ व धूर्तता उसकी सभ्यता के अनुरूप थीं। असली मुद्दा है स्वाधीनता के बाद का। अंग्रेजी और अंग्रेजियत को ढोते लहू खच्चरों की उम्मीदें जाग उठीं। जिन्हे वे अपना मानते थे, अंकुश उनके हाथ में आ चुका था। किंतु वे इस बात से अनभिज्ञ थे कि अंतर केवल चमड़ी के रंग में हुआ था। फिरंगी देसी चमड़ी में अंकुश हाथ में लिए अब भी खच्चर पर लदा रहा। अलबत्ता आरंभ में पंद्रह बरस बाद बोझ उतारने का “लॉलीपॉप” जरूर दिया गया। धीरे-धीरे “लॉलीपॉप” भी बंद हो गया। खच्चर मरियल और मरियल होता गया। अब तो देसी चमड़ी के फिरंगियों की धूर्तता देखकर गोरी चमड़ी का फिरंगी भी दंग रह गया है।

प्रश्न है कि जब राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा माना जाता है तो क्या हमारी व्यवस्था को एक डरा-सहमा लोकतंत्र अपेक्षित था जो मूक और अपाहिज हो? विगत वर्षों का घटनाक्रम देखें तो उत्तर “हाँ” में मिलेगा।

राष्ट्रभाषा को स्थान दिये बिना राष्ट्र के अस्तित्व और सांस्कृतिक अस्मिता को परिभाषित करने की चौपटराजा प्रवृत्ति के परिणाम भी विस्फोटक रहे हैं। इन परिणामों की तीव्रता विभिन्न क्षेत्रों में अनुभव की जा सकती है। इनमें से कुछ की चर्चा यहाँ की जा रही है।

राष्ट्रभाषा शब्द के तकनीकी उलझाव और आठवीं अनुसूची से लेकर सामान्य बोलियों तक को राष्ट्रभाषा की चौखट में शामिल करने के शाब्दिक छलावे की चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है। राष्ट्रभाषा से स्पष्ट तात्पर्य देश के सबसे बड़े भूभाग पर बोली-लिखी और समझी जाने वाली भाषा से है। भाषा जो उस भूभाग पर रहनेवाले लोगों की संस्कृति के तत्वों को अंतर्निहित करने की क्षमता रखती हो, जिसमें प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों से शब्दों के आदान-प्रदान की उदारता निहित हो। हिंदी को उसका संविधान प्रदत्त पद व्यवहारिक रूप में प्रदान करने के लिए आम सहमति की बात करने वाले भूल जाते हैं

कि राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत और राष्ट्रभाषा अनेक नहीं होते। हिंदी का विरोध करने वाले कल यदि राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगीत पर भी विरोध जताने लगें, अपने-अपने ध्वज फहराने लगें, गीत गाने लगें तो क्या कोई अनुसूची बनाकर उसमें कई ध्वज और अनेक गीत प्रतिष्ठित कर दिये जायेंगे? क्या तब भी यह कहा जायेगा कि अपेक्षित राष्ट्रगीत और राष्ट्रध्वज आम सहमति की प्रतीक्षा में हैं? भीरु व दिशाहीन मानसिकता दुःशासन का कारक बनती है जबकि सुशासन स्पष्ट नीति और पुरुषार्थ के कंधों पर टिका होता है।

सांस्कृतिक अवमूल्यन का बड़ा कारण विदेशी भाषा में देसी साहित्य पढ़ाने की अधकचरी सोच है। राजधानी के एक अंग्रेजी विद्यालय ने पढ़ाया- Seeta was sweetheart of Rama! ठीक इसके विपरीत श्रीरामचरित मानस में श्रीराम को सीताजी के कानन-कुण्डल मिलने पर पहचान के लिए लक्ष्मणजी को दिखाने का प्रसंग स्मरण कीजिए। लक्ष्मणजी का कहना कि मैंने सदैव भाभी माँ के चरण निहारे, अतएव कानन-कुण्डल की पहचान मुझे कैसे होगी? - यह भाव संस्कृति की आत्मा है। कुसुमाग्रज की मराठी कविता में शादीशुदा बेटी का मायके में “चार भिंतीत नाचली” का भाव तलाशने के लिए सारा यूरोपियन भाषाशास्त्र खंगाल डालिये। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।

शिक्षा के माध्यम को लेकर बनी शिक्षाशास्त्रियों की अधिकांश समितियों ने प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने की सिफारिश की। यह सिफारिशें आज कूड़े-दानों में पड़ी हैं। त्रिभाषा सूत्र में हिंदी, प्रादेशिक भाषा एवं संस्कृत/अन्य क्षेत्रीय भाषा का प्रावधान किया जाता तो देश को ये दुर्दिन देखने को नहीं मिलते। अब तो हिंदी को पालतू पशु की तरह दोहन मात्र का साधन बना लिया गया है। सिनेमा में हिंदी में संवाद बोलकर हिंदी की रोटी खानेवाले सार्वजनिक वक्तव्य अंग्रेजी में करते हैं। जनता से हिंदी में मतों की याचना करनेवाले निर्वाचित होने के बाद अधिकार भाव से अंग्रेजी में शपथ उठाते हैं।

छोटी-छोटी बात पर और प्रायः बेबात संविधान को इत्थमभूत धर्मग्रंथ-सा मानकर अशोभनीय व्यवहार करने वाले छुटभैयों से लेकर कथित राष्ट्रीय नेताओं तक ने कभी राष्ट्रभाषा को मुद्दा नहीं बनाया। जब कभी किसीने इस पर आवाज़ उठाई तो बरगलाया गया कि भाषा संवेदनशील मुद्दा है। तो क्या देश को संवेदनहीन समाज अपेक्षित है? कतिपय बुद्धिजीवी भाषा को कोरी भावुकता मानते हैं। शायद वे भूल जाते हैं कि युद्ध भी कोरी भावुकता पर ही लड़ा जाता है। युद्धक्षेत्र में “हर-हर महादेव” और “पीरबाबा सलामत रहें” जैसे भावुक (!!!) नारे ही प्रेरक शक्ति का काम करते हैं। यदि भावुकता से राष्ट्र एक सूत्र में बंधता हो, व्यवस्था शासन की दासता से मुक्त होती हो, शासकों की संकीर्णता पर प्रतिबंध लगता हो, अनुशासन कठोर होता हो तो भावुकता देश के लिए अनिवार्य होनी चाहिए।

वर्तमान में सीनाजोरी अपने चरम पर है। काली चमड़ी के अंग्रेज पैदा करने के लिए भारत में अंग्रेजी शिक्षा लानेवाले मैकाले के प्रति नतमस्तक होता आलेख पिछले दिनों एक हिंदी अखबार में पढ़ने को मिला। यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं जब जनरल डायर और जनरल नील-छत्रपति शिवाजी महाराज, महाराणा प्रताप और पृथ्वीराज चौहान के स्थान पर देश में शौर्य के प्रतीक के रूप में पूजे जाने लगेंगे।

सामान्यतः श्राद्धपक्ष में आयोजित होनेवाले हिंदी पखवाड़े के किसी एक दिन हिंदी के नाम का तर्पण कर

देने या सरकारी सहभोज में सम्मिलित हो जाने भर से हिंदी के प्रति भारतीय नागरिक के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो सकती। आवश्यक है कि नागरिक अपने भाषाई अधिकार के प्रति जागरूक हों। वह सूचना के अधिकार के तहत राष्ट्रभाषा को राष्ट्र भर में मुद्रा बनाएं।

अस्सी के दशक में अफ्रीका का एक छोटा सा देश आज़ाद हुआ। मंत्रिमंडल की पहली बैठक में निर्णय लिया गया कि देश आज से “रोडेशिया” की बजाय “जिम्बाब्वे” कहलायेगा। राजधानी “सेंटलुई” तुरंत प्रभाव से “हरारे” होगी। नई सदी प्रतीक्षा में है कि कब “इंडिया”की केंचुली उतारकर “भारत” बाहर आयेगा। आवश्यकता है महानायकों के जन्म की बाट जोहने की अपेक्षा भीतर के महानायक को जगाने की। अन्यथा भारतेंदु हरिश्चंद्र की पंक्तियाँ – “आवहु मिलकर रोवहुं सब भारत भाई, हा! हा! भारत दुर्दसा न देखन जाई! क्या सदैव हमारा कटु यथार्थ बनी रहेंगी ?